अन्तरराष्ट्रीय शोध संगोष्ठी का कार्यवृत

अतुल्य भारत

संस्कृति और राष्ट्र

सम्पादक

डॉ. सरोज गुप्ता

डॉ. संध्या टिकेकर

डॉ. निशा जैन

डॉ. घनश्याम भारती

सहसम्पादक

डॉ. मंगल सिंह

पं. दीनदयाल उपाध्याय शासकीय स्नातकोत्तर कला एवं वाणिज्य (अग्रणी) महाविद्यालय
सागर (मध्य प्रदेश)

भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली

₹ 750/-

ISBN 978-93-88522-57-1

9 789388 522571

जे.टी.एस. पब्लिकेशन्स
बी-508, गली नं.17, विजय पार्क,दिल्ली-110053
मो. 08527460252, 011-22911223
ईमेल: jtspublications@gmail.com

9. भारतीय संस्कृति में निहित आश्रम व्यवस्था की वैज्ञानिकता ९२
डॉ. किरण आर्या
10. बुन्देली लोकसंस्कृति बनाम लोकभाषा की एक झलक १०२
डॉ. अफरोज बेगम
11. भारतीय संस्कृति और मानव-मूल्य ११०
डॉ. सरोज बाला श्याग विश्नोई
12. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के काव्य में राष्ट्रीय नवजागृति ११६
डॉ. सीमा अग्रवाल, डॉ. मंजू गुप्ता
13. भारत की प्राचीन शिक्षा व्यवस्था में गुरूकुल का महत्व ११९
नीरज कुमार सिन्हा
14. भारतीय संस्कृति और मानव-मूल्य १२७
डॉ. राजेश कुमार ठाकुर
15. 'श्रीरामचरितमानस' में प्रकृति-चित्रण एवं जनजीवन संस्कृति १४०
अवधेश कुमार
16. भारतीय अर्थव्यवस्था का स्वरूप १४८
डॉ. गीता सिंह
17. आश्रम व्यवस्था की वैज्ञानिकता एवं वर्तमान में इसकी प्रासंगिकता १५५
सौरभ देवा
18. भारतीय संस्कृति और मानव-मूल्य १६४
नरेश ऋत्विक
19. संस्कृति के व्यापक संदर्भ १६९
डॉ. अनिता वर्मा, डॉ. मंजू गुप्ता
20. भारतीय पत्रकारिता का अतुल्य स्वरुप १७५
अरुण कुमार खोबरे
21. जीवन मूल्यों की निरंतरता का रहस्य १८४
डॉ. एस.सी. राय, डॉ. (श्रीमती) प्रवीन झाम

६

भारतीय संस्कृति में निहित आश्रम व्यवस्था की वैज्ञानिकता

डॉ. किरण आर्या
सहा.प्रा., संस्कृत विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर वि. वि. सागर (म.प्र.)

'संस्कृतिर्नाम संस्काराणां संवाहिका' संस्कारों की अविरल धारा जहाँ निरन्तर प्रवाहित होती है उसे संस्कृति के नाम से जाना जाता है। संस्कृत में सम् उपसर्गपूर्वक कृ धातु से क्तिन् प्रत्यय करके संस्कृति शब्द निष्पन्न होता है। जिसका सीधा अर्थ होता है संस्कारों से परिष्कृत होना, संस्कारित होना। जैसे बिना संस्कारित अर्थात् छुकी हुई तरकारी स्वादिष्ट न लगने के कारण, न खाये जा सकने से पौष्टिक नहीं होती, उसीप्रकार असंस्कारित जीवन भी आनन्ददायक, सन्तुष्टिदायक नहीं होता। इसीलिये हमारे ऋषिमुनियों ने सोलह संस्कारों की व्यवस्था बताई है जो संस्कार शिशु के उत्पन्न होने के पूर्व से ही प्रारम्भ हो जाते हैं। इसके साथ ही जीवन को संस्कारित एवं व्यवस्थित रूप से चलाने के लिये भारतीय संस्कृति में वर्णव्यवस्था आश्रमव्यवस्था जैसी व्यवस्थायें भी निर्दिष्ट की गई हैं।

भारतीय संस्कृति के आवश्यक तत्त्वों में से एक प्रमुख तत्त्व है आश्रम व्यवस्था। आश्रम व्यवस्था की परिकल्पना और उसकी वैज्ञानिकता को देखकर भारतीय मनीषियों की एक सर्वव्यापी सोच एवं मानव जीवन के प्रति सर्वांगीण दृष्टिकोण का हमें ज्ञान होता है। अर्थात् प्राचीन काल में भारतीय मनीषा स्वकेन्द्रित न होकर सकलविश्वहिताय समाजहिताय कितनी तत्पर थी यह देखकर हमें हमारे इतिहास पर गर्व होता है। प्राचीन काल के ऋषि मानव जीवन को एक विशाल समस्या समझते थे और उनके हल करने में उन्होंने अपने ऊँचे से ऊँचे विचारक लगा दिये थे। मानव जीवन की समस्या

का उन्होंने जो हल किया था उसी को आधार बनाकर यहाँ के समाज की संरचना हुई उन्होंने जीवन को सफल बनाने के लिये जीवन का एक आदर्श स्थापित किया था मानव जीवन को सुविचारित एवं सुव्यवस्थित चलाने के लिये जहाँ पुरुषार्थ चतुष्टय, वर्णव्यवस्था, सोलह संस्कार, पंच महायज्ञ आदि का विधान किया गया वहीं इन कर्मों को करने के लिये आश्रमव्यवस्था का भी निर्देश किया गया है। जिसका प्रत्येक व्यक्ति पालन करता था।

आश्रम शब्द की व्युत्पत्ति आ उपसर्गपूर्वक श्रम् धातु से हुई है जिसका अर्थ होता है – **आ श्राम्यन्ति अस्मिन् इति आश्रमः** अर्थात् एक ऐसा जीवन स्तर जिसमें व्यक्ति अत्यधिक श्रम परिश्रम करे अथवा करता है। आश्रम शब्द केवल अरण्य में घास फूस की कुटिया बनाकर उसमें रहने का नाम नहीं है अपितु शारीरिक, आत्मिक एवं मानसिक श्रम करके अपने लक्ष्य को प्राप्त करने का नाम है। वे आश्रम चार प्रकार के बताये गये हैं – ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम। महाभारत में आश्रम व्यवस्था को चार दण्डों वाली ऐसी सीढ़ी बताया है जो व्यक्ति को क्रमशः ब्रह्म की ओर अग्रसर करती है –

चतुष्पदी हि नः श्रेणी ब्रह्मण्येषा प्रतिष्ठिता।
एतामारुह्य निःश्रेणीं ब्रह्मलोके महीयते।।*[1]

पुरुषार्थ चतुष्टय – धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में मोक्ष ही चरम प्रयोजन है और उसे प्राप्त करने के लिये यह आश्रम व्यवस्था सबसे सुगम मार्ग है। इस मार्ग पर चलते हुए मनुष्य अनायास ब्रह्म की ओर गतिशील होता है। मानव जीवन प्राप्त होने पर उसको व्यतीत तो सभी लोग कर लेते हैं किन्तु आदर्श जीवन जी सकने के लिये आश्रमव्यवस्था एक निश्चित दिशा बोध प्रदान करती है।

आश्रम व्यवस्था कब और कैसे प्रारम्भ हुई किसके द्वारा प्रारम्भ की गई इसके विषय में हम यही कह सकते हैं कि वैदिक काल से ही यह व्यवस्था प्रचलित थी क्योंकि ऋग्वेद में आया है कि –

चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत।*[2]

अर्थात् जीवन को आदर्शमय जीने के लिये परमात्मा ने चार भवनों या आश्रमों को बनाया है जो जीवन में जान डाल देते हैं। अथर्ववेद में भी कहा –

भगस्ततक्ष चतुरः पादान् भगस्ततक्ष चत्वार्यायुष्पलानि*[3]

अर्थात् हर वस्तु को विभक्त करने वाले ने जीवन को आयु के चार भागों में विभक्त कर दिया है। शतपथ में उन चार भागों का विस्तार करते हुए कहा है –

ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत् *[4]

मनुष्य जीवन के आदर्श को क्रियात्मक बनाने का तरीका यह है कि पहले ब्रह्मचर्य व्रत धारण करें ब्रह्मचर्य के उपरान्त गृहस्थ, बाद में वानप्रस्थ और फिर संन्यास आश्रम में प्रवेश करें।

ऋग्वेद में स्पष्ट आश्रम शब्द का उल्लेख तो नहीं दिखता किन्तु जीवन की ऐसी अवस्थाओं का वर्णन प्राप्त होता है जिससे परवर्ती युग की आश्रम व्यवस्था का चित्रण स्पष्ट होता है। ऋगवेद में ब्रह्मचारी शब्द प्रयोग आया है – **ब्रह्मचारी चरति वेविषद् विषः स देवानां भवत्येकमंगम् (ऋ.10.109.05)** तथा वेदों के व्याख्यान ग्रन्थ गृह्यसूत्रों में ब्रह्मचारी का उपनयन संस्कार की चर्चा आती है क्योंकि उपनयन संस्कार के अनन्तर ही ब्रह्मचारी वास्तव में विद्याध्ययन का अधिकारी होता है। ऋग्वेद में अनेक ऐसे मन्त्र प्राप्त होते हैं जिनसे गुरु शिष्य का सम्बन्ध, गुरु द्वारा ब्रह्मचारी को पढ़ाना, आदि के विषय में वर्णन प्राप्त होता है –

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तरं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।।

अर्थात् आचार्य गुरु विद्याध्ययन के अधिकारी ब्रह्मचारी का उपनयन करते हुए उसे अपने गर्भ में अर्थात् अपने संरक्षण में तीन रात्रियों तक (अर्थात् जब तक वेदत्रयी का ज्ञान उसे न हो जाये तब तक) रखता है और गुरु के संरक्षण में अधीत वह ब्रह्मचारी ऐसा भव्य तेजस्वी तैयार होता है कि जिसे देखने के लिये देवता भी लालायित

रहते हैं। इस मन्त्र के भाव में ब्रह्मचर्याश्रम की बहुत बड़ी वैज्ञानिकता निहित है कि अपने घर परिवार से दूर गुरुकुल में निरन्तर गुरु के ही पास रहकर वह अन्तेवासी (गुरु के समीप रहने वाला) जितेन्द्रियात्मा पवित्रात्मा होकर केवल और केवल ब्रह्म और विद्या के स्वाद को ग्रहण करते हुए एक भव्य दिव्य स्वरूप वाला बनता है। अर्थात् इसप्रकार का बनना है तो प्रथमतया विद्यार्थी को घर से दूर रहना होगा अध्ययन और परमात्माचिन्तन के अलावा उसके पास दूसरे कोई व्यसन नहीं होना चाहिये। तब उसका ब्रह्मचर्याश्रमवास सफल है। ऐसा वेद कहता है। ऋग्वेद में आया है कि पढ़ने वाला गुरु की बातें उसीप्रकार दोहराया करता है जिस प्रकार एक मेंढ़क टर्राने में दूसरा मेंढ़क की वाणी पकड़ता है, दोहराता है –इससे स्पष्ट है कि गुरु द्वारा सिखाए गये पाठ को विद्यार्थी मौखिक विधि से कण्ठस्थ किया करते थे।

ऋग्वेद में ब्रह्मचर्याश्रम के समान ही गृहस्थाश्रम का नाम्ना निर्देश नहीं है किन्तु इस आश्रम से सम्बद्ध अनेक संकेत प्राप्त होते हैं गृहस्थाश्रम का आरम्भ विवाह संस्कार से होता है और ऋग्वेद के दशम मण्डल का 25वां सूक्त विवाहसूक्त ही है परवर्ती युग में विवाह अथवा गृहस्थाश्रम में विहित जो धर्म कर्म, रति सन्तानोत्पत्ति आदि विविध प्रयोजन कहे गये हैं वे सब विभिन्न प्रकार से ऋग्वेद में वर्णित हैं। गृहपति शब्द का प्रयोग अनेक बार वेदों में किया गया है। ऋग्वेद के प्रसिद्ध अक्षसूक्त में पारिवारिक जीवन की विविध झाँकिया प्राप्त होती हैं।

वेदों के अनन्तर उपनिषद् काल में आश्रम व्यवस्था पूर्णरूप से स्थापित दिखायी देती है। विभिन्न उपनिषदों आश्रमों का स्पष्टतया उल्लेख एवं तथा आश्रमों द्वारा कर्त्तव्य धर्म कर्म आदि का वर्णन भी प्राप्त होता है।

शतायुर्वै पुरुषः के अनुसार मनुष्य का जीवन प्राचीन काल में प्रायः शतायु वर्ष होता रहा होगा उस दृष्टि से इन चार आश्रमों को 25–25 वर्षों में विभक्त किया गया था। आज ऐसा नहीं है किन्तु सौ वर्ष की एक ऐसी सीमा है जिसकी आशा व्यक्ति कर सकता है और

'जीवेम शरदः शतम्' इस यजुर्वेद के मन्त्रांश द्वारा सौ वर्ष जीने की प्रार्थना द्वारा उसे प्राप्त कर सकता है। और जितना भी जिये मनुष्य स्वचिन्तन से इस जीवनशैली को भलीप्रकार अपना सकता है। इदानीं अल्पायु होने के कारण 25–25 वर्षों में अब इस प्रकार की जीवनशैली को विभक्त नहीं किया जा सकता। इसप्रकार जीवन के इन चार भागों को जो चार नाम दिये गये हैं उन प्रत्येक आश्रम में श्रम अर्थात् विशेष आचार, विचार, जीवनपद्धति आदि का निर्धारण किया गया है।

ब्रह्मचर्याश्रम – यह जीवन का प्रथम आश्रम है। बालक के लगभग आठवें वर्ष में उपनयन संस्कार के अनन्तर इस आश्रम का आरम्भ हो जाता है। उपनयन के बाद वह ब्रह्मचारी द्विज शब्द का भी अभिधायक हो जाता है क्योंकि अब उसका दूसरा जन्म होता है पहला जन्म मातृयोनि से होता है और दूसरा जन्म विद्यायोनि से होता है जो कि आचार्यकुल में होता है। बालक जब विद्या प्राप्त करने लगता है तब वह शास्त्र को जानना समझना, उसमें विहित कर्त्तव्यों की शिक्षा ग्रहण करना और उसे व्यवहार में उतारने का प्रयास करना आदि गुणों से अन्वित होने लगता है जिससे उसका कर्मरूपी द्वितीय जीवन आरम्भ हो जाता है। वह वास्तव में ब्रह्मचारी हो जाता है ब्रह्मचर्य को धारण करता है। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य इन्द्रिय संयमन और वेदाध्ययन हेतु दृढसंकल्पित होना है। वेद ब्रह्म है, परमात्माशक्ति ब्रह्म है और ब्रह्म के सम्बन्ध में आचरण को स्वभाव बना लेना ही ब्रह्मचर्य है। हमारे भारतीय ऋषियों की यह दूरदृष्टि थी कि जब तक बालक घर से दूर रहकर विद्याध्ययन नहीं करेगा तब तक उसके अन्दर कठोर तप, संयमन, विद्याव्यवसन, और व्यवस्थित जीवन जीने का भाव आ ही नहीं सकता। सहपाठियों के सहवास से दूसरे के उन्नत होने पर लज्जा का अनुभव और स्वयं को आगे बढ़ाते रहने का संकल्प, ज्ञान में प्रतिस्पर्धा की भावना से युक्त होकर निरन्तर श्रमसाध्य ज्ञान प्राप्त करना आचार्य के सतत सामीप्य से दण्डभय से सन्मार्ग पर चलने आदि का भाव गुरुकुल में ही आ सकता है, घर में माता पिता के लाड़ में नहीं। इसीलिये प्राचीन भारत में गुरुकुल प्रणाली की व्यवस्था भारतीय मनीषियों द्वारा बनायी गयी थी। गुरु की आज्ञा पालन करना ब्रह्मचारी का प्रथम कर्त्तव्य होता था गुरु के समक्ष सदा विनत रहे,

नीचे आसन पर बैठे, गुरु के सो जाने पर सोये, उठने से पूर्व उठ जाये, गुरु की निन्दा अपमान न स्वयं करे और न ही किसी के करने पर उसे सुने मन वचन कर्म से गुरु का बनकर रहे, ये सारे सद्व्यवहार एक सुशिक्षित आचार्य के सान्निध्य में ब्रह्मचारी पाता था। और इस ब्रह्मचर्याश्रमकाल में जैसा घड़ा आचार्य बना देता था वह आजीवन उसी प्रकार बना रहता था। वर्तमान समय में इन सबके अभाव में हम न केवल छात्रों की दुर्गति अपितु अध्यापकों की दुर्गति को भी स्पष्ट देख रहे हैं। और सुभारत बनने का स्वप्न संजो रहे हैं!!!

मनुष्य जीवन के प्रथम पड़ाव ब्रह्मचर्याश्रम में प्रत्येक बालक ब्रह्मचारी की पदवी में होता है। जिसका अर्थ है निरन्तर ब्रह्म अर्थात् विद्या में एवं परमात्मचिन्तन में रत रहने वाला। ब्रह्मचर्याश्रम में बालक का प्रथम कर्त्तव्य है कि सतत विद्याभ्यास करे, अपनी इन्द्रियों पर दमन करने का प्रयास करे।

दूसरा है **गृहस्थाश्रम**, इस आश्रम में मनुष्य का कर्त्तव्य बनता है कि यथाविधि सन्तानोत्पत्ति तथा सीमा में रहकर इन्द्रियसुख भोगता हुआ तीनों आश्रमस्थ व्यक्तियों की सेवा शुश्रूषा करता हुआ, दानादि कर्मों को करता हुआ इस आश्रम का भलीप्रकार पालन करे। गृहस्थाश्रम में अपनेपन का केन्द्र अपने से हटकर दूसरों में जाना प्रारम्भ करता है स्वार्थ से उठकर परार्थ में जाने लगता है अतः यह आश्रम बड़ी जिम्मेदारी का आश्रम माना जाता है। जिसने पहले स्वत्व को नहीं पहचाना अपनी उन्नति नहीं की, वह दूसरों का ध्यान कैसे रख सकता है? इसीलिये ऋषियों ने गृहस्थाश्रम से पहले ब्रह्मचर्याश्रम का विधान किया इस आश्रम में अपनी पूर्ण रूप से उन्नति अभीष्ट है। जिसने अपने शरीर मन आत्मा की उन्नति कर ली है वह दूसरों की उन्नति का आधार बन सकता है। यही कारण है ऋषियों ने अब्रह्मचारी या अब्रह्मचारिणी को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से वंचित किया है – **अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्** (मनुस्मृति 3.2) अर्थात् जिसका ब्रह्मचर्य भंग न हुआ हो वही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। कन्या के विषय में भी अथर्ववेद का यह वचन है – **ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्** (अथर्व.11.5.18) अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन

करके ही कन्या युवा पति का वरण करे। वैदिक आदर्श यही रहा है कि जो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहे वह पहले अपना ब्रह्मचर्याश्रम का प्रमाणपत्र प्रस्तुत करे जो ऐसा न कर सके वह विवाह का अधिकारी नहीं। आज अखबार में विज्ञापन निकलता है – लड़का चाहिये जो 25000 कमाता हो, विदेश से लौटा हो, विदेश से पढ़कर आया हो आदि आदि। यदि वैदिक काल में यह विज्ञापन निकलता तो उसमें लिखा होता – एक बह्मचारी चाहिये, और यदि उस समय विदेश ऐसा ही होता जैसा आज है तो विज्ञापन में लिखा होता जो विदेश होकर आया हो वह नहीं चाहिये। आज जो सन्तान बिगड़ने लगती है माता पिता उसका विवाह जल्दी करने लगते हैं परन्तु वैदिक आदर्श के अनुसार जो सन्तान बिगड़ने लगे उसके विवाह की कोई आशा ही नहीं रहती उसे विवाह का अधिकार नहीं होता, बिगड़े हुये इन्सान को अपने जैसी बिगड़ी सन्तान पैदा करके समाज को गन्दा करने का कोई अधिकार नहीं है। इसलिये वैदिक आदर्श के अनुसार ब्रह्मचारी ही विवाह का अधिकारी है।

गृहस्थ का आदर्श गृहस्थी को छोड़ना है न कि उसमें रम जाना है विवाह खिलवाड़ नहीं है यह विषय भोग का साधन नहीं है। अथर्ववेद में पत्नी को सम्बोधित करते हुये कहा है – **पत्युरनुव्रता भूत्वा संनह्यस्व अमृताय कम् ।(14.01.42)** अर्थात् पति के पीछे चलती हुई पत्नी अमृत पाने की तैयारी करे। विवाह अमृत पाने की तैयारी के लिये है इस अमृत को अथर्ववेद के इसी सूक्त में समझाया है –

ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्व ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः।
अनाव्याषां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके विराज।।
(14.01.64)

अर्थात् पत्नी के पीछे ब्रह्म हो आगे ब्रह्म हो अन्त तक ब्रह्म हो, चारों तरफ ब्रह्म हो इसप्रकार ब्रह्म से घिरी पति लोक में राज्य करे। ब्रह्म का अर्थ है – महानता, बड़प्पन। स्वार्थ से परार्थ की ओर जाना। गृहस्थ आश्रम मनुष्य जीवन को इसी आदर्श की ओर ले जाता है। प्राचीन वैदिक आदर्श के अनुसार गृहस्थाश्रम को तभी सफल कहा

जा सकता है जब आयु के एक भाग में जैसे साँप कैंचुली को उतार फेंकता है वैसे इस आश्रम को भी छोड़ दिया जाये और अगले आश्रम में प्रवेश किया जाये। गृहस्थाश्रम का आदर्श तो जीवन के आदर्श को पूरा करने की श्रृंखला में एक कड़ी है।

तृतीय आश्रम है वानप्रस्थाश्रम। प्राचीन काल में गृहस्थी गृहस्थ को छोड़कर आगे चल देता था परन्तु आज गृहस्थ में प्रवेश करने बाद लोग इसे छोड़ना नहीं चाहते और अनन्त काल तक हमें जीना है ऐसा सोचकर इसी में डटे रहते हैं, गृहस्थ के चक्रव्यूह में अभिमन्यु की तरह प्रवेश तो कर लेते हैं किन्तु इससे निकलना भूल जाते हैं। जीवन एक यात्रा है जिसमें निरन्तर चलते रहना चाहिये। इसमें यदि ठहराव आता है तो वह जल की तरह मलिन हो जाता है। जो भले मानस गृहस्थ को छोड़कर आगे बढ़ जाते हैं उनकी मान प्रतिष्ठा बनी रहती है। और जो ऐसा नहीं करते उसका परिणाम आज स्पष्ट है कि स्वयं उनके ही बच्चे, लड़के बहू उन्हें कोसते हैं, सास बहू का झगड़ा रोज का ही है। क्योंकि उनकी सास इसप्रकार रहना चाहती है मानों वही बहू हो। आज पिता आखिरी दम पड़ा पड़ा लड़कों को बोझ लगने लगता है। जिस माता–पिता हमें पाला पोसा, वे अगर बोझा भी हो जाये तो भी सन्तान का कर्त्तव्य है कि वे उनकी सेवा करें, किन्तु यह तो सन्तान का कर्त्तव्य है, पर किसी से कहना कि तुम्हारा कर्त्तव्य हमारी सेवा करना है किसे शोभा देता है इसीलिये प्राचीन ऋषियों ने सन्तान के माता–पिता के प्रति ऋण को , जिसे पितृ ऋण कहते थे उसे चुकाने के लिये दूसरा मार्ग बताया और वह यह नहीं था कि बूढ़े होकर घर की चौकी पर बैठ जायें और पुत्र उनकी पूजा करें अपितु यह कर्त्तव्य बतलाया कि वे गृहस्थ के बाद वानप्रस्थी हो जायें और उनकी सन्तान पितृऋण को चुकाने के लिये गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करे। हर व्यक्ति स्वतन्त्रता चाहता है अगर माता–पिता घर में ही बने रहे तो उनकी सन्तान को स्वतन्त्रता से इच्छानुसार काम करने का अवसर नहीं मिलता इसीलिये उनका बनता काम भी बिगड़ जाता है और फिर आसपास के लोग तमाशा देखने के लिये इकट्ठे हो जाते हैं। माता पिता के वृद्धावस्था में भी अपनी हुकूतम न देने के कारण ही घर घर में आज कलह है। इसीलिये

प्राचीन ऋषियों ने वानप्रस्थाश्रम द्वारा इस समस्या का हल निकाला कि अन्त में तो दुनिया छोड़ना ही है तो क्यों न धक्के खाने, और बेइज्जती पाने की बजाय स्वयं ही इसे छोड़ दें। संसार भोगने के लिये ही मिला है इसलिये गृहस्थाश्रम का विधान किया गया किन्तु गृहस्थाश्रम में रहने के बाद उसके भोगों को भोगने के बाद स्वतः इससे विरक्ति होने लगती है। भोग का छूटना तो अवश्यम्भावी है ही अतः मनुष्य के मन की इसी स्वाभाविक अवस्था को ऋषियों ने वैज्ञानिक रूप दिया और वह है वानप्रस्थाश्रम। वानप्रस्थ एक भावना विशेष है संसार के विषयों का रस भी लो और फिर उसे छोड़ भी दो। यही प्रवृत्ति और निवृत्ति है प्रेय और श्रेय है। प्रवृत्ति के बाद निवृत्ति आवश्यक है, प्रेय के बाद श्रेय आवश्यक है। इसीलिये मनु महाराज कहते हैं –

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत् स्नातको द्विजः।
वने वसेत्तु नियतो यथावद् विजितेन्द्रियः।।
गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपतितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्।। (मनु. 6.1,3)

अर्थात् विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य से विद्याध्ययन करके जितेन्द्रिय व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे और गृहस्थ में जब चमड़ी ढीली पड़ने लग जाये बाल श्वेत हो जायें और पुत्र का पुत्र हो जाये तब गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर ले।

चतुर्थ आश्रम है संन्यासाश्रम। प्राचीन ऋषियों ने जीवन में अधिक से अधिक लम्बी आयु प्राप्त करने के लिये खुली हवा में जीने का सुनहरा अवसर दिया इसीलिये ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम को अरण्य में रहने का विधान किया है।

आज संन्यासाश्रम का तात्पर्य सब काम छोड़कर बैठ जाना समझा जाता है। परन्तु आश्रम व्यवस्था में जिस संन्यासाश्रम की कल्पना की गई है वहाँ ऐसा नहीं है तीनों आश्रमों की चरम सीमा संन्यासाश्रम है। तीनों आश्रमों का उद्देश्य धीरे धीरे पूरा होता हुआ इस आश्रम में पूर्णता को प्राप्त होता है। संन्यास का अर्थ है –

सम्+न्यास अर्थात् अब तक जो लगाव का बोझ कन्धों पर लदा रहा है उसे उठाकर अलग कर देना। संन्यास बाहर का नहीं भीतर का चिह्न है। संन्यास घर छोड़ने का नाम नहीं है अपितु राग द्वेषादि दुर्गुणों को सर्वथा छोड़ देने का नाम है। क्योंकि अब वह जीवन के अन्तिम पड़ाव मृत्यु के निकट पहुँच रहा है। संन्यासियों के लिये खास तौर पर अपना कोई नहीं होता क्योंकि सब एक समान उसके अपने हो जाते हैं। अतः बाल्यावस्था स्वार्थ से युक्त होती है वहीं गृहस्थ में स्वार्थ और परार्थ दोनों की भावना बलवती हो जाती है वानप्रस्थाश्रम में केवल परार्थ अवशिष्ट रहता है और संन्यासाश्रम में वह स्वार्थ परार्थ दोनों से ऊपर हो जाता है। केवल ब्रह्ममय उसका जीवन हो जाता है। यह संन्यासाश्रम का भाव है जिस पर हमारे ऋषियों मुनियों ने अपनी दूरदृष्टि से चिन्तनपूर्वक मन्थन किया था और चारों आश्रमों की नींव डाली थी जिससे मानव जीवन यथार्थ पर चलकर सुखी व मोक्षगामी हो सके।

सन्दर्भसूची

1 महा. 12.242.15
2 ऋ. 9.10.01
3 अथर्व. 14.01.60
4 शतपथ.14 काण्ड